

किस्से कहानियां लेकिन...

बात बाल साहित्य की है, बचपन याद आता है। गांव में बीता बचपन। ऐसा ज्यादा कुछ नहीं है जिसे बहुत शिद्धत से याद किया जा सके। कुछ धुंधली-सी स्मृतियां हैं जो यदा-कदा मनस पटल पर कौंधती हैं। बात वहीं से शुरू की जाए, अपने अनुभवों को बटोरते हुए।

बचपन में साहित्य से परिचय वाचिक रूप में हुआ। खासतौर पर मां, बुआ, बहिनों एवं चाची-ताई से सुनी कहानियां। सुबह से शाम तक के खेतिहर अथक श्रम के बाद वे कभी-कभी थोड़ा वक्त इसके लिए निकाल पाती थीं। कहानियां क्या थीं- राजा मोरध्वज, राजा हरिश्चंद्र, नल दमयंती, चिडा-चिडी, झीतरियो आदि। राजा मोरध्वज एवं राजा हरिश्चंद्र की कहानी मां सस्वर, लयबद्ध एवं भावपूर्ण तरीके से सुनाती थीं। इन कहानियों में कुछ पंक्तियां लयबद्ध एवं आवृत्तिक रूप से आती थीं। कभी हमवयस्क भाई-बहिन जुटते, उनकी कहानियां, चुटकुले उम्र के हिसाब से चिडा-चिडी, राजा-रानी या जंगल में रात को रास्ता ढूँढते लोगों की कहानियां होतीं। आमतौर पर उनमें किसी मुश्किल में फंसे व्यक्ति की सूझबूझ के ही कारनामे होते। फुर्सत के दिनों में जब खेती के कामों से निजात मिलती तब आस-पड़ोस की छतों पर चाची, ताई और भाभियां जुट जातीं और कथा कहानियों का सिलसिला शुरू होता। कुछ कथा कहने में कुशल थीं तो कुछ श्रोता होतीं। इनकी कथा कहानियां - व्रत कथाएं थीं, सती सावित्री के किस्से होते या सीता आदि की कथाएं। उन सभी कथाओं की खास बात यही थी कि वे उन सभी मूल्यों को स्थापित करती थीं जो महिलाओं की तय भूमिकाओं और मर्यादाओं को आरोपित करती थीं और पुरुषों के लिए दान, सत्यवादिता, साहस और निवृत्ति आदि मूल्यों को संप्रेषित करती थीं। एक और बात याद आती है, सुबह चार बजे, शायद चार ही बजे होते होंगे, हमारी नींद आवाज से ही खुलती थी ; मां को उठकर चक्की पर अनाज पीसना होता था। चक्की की आवाज के साथ गीतों का सिलसिला शुरू होता जो भोर होने तक चलता। चक्की की आवाज के साथ गीतों का स्वर एक नहीं अनेक घरों से आता। कुनमुनाते छोटे बच्चे उनकी गोद में होते।

जागा भी गांव में आता। अपने पूरे 'ऐतिहासिक दस्तावेजों' के साथ। नई जानकारियां जोड़ने एवं पुरानी बताने। लोग उससे अपने परिवारों का 100-200-500 सालों का इतिहास पूछते। फलां कुआ कब बना, फलां का जन्म कब हुआ और फलां कब मरा। जागा का यह व्यापार कई दिनों चलता। उसका पड़ाव उसी गांव में होता। वहीं किसी न किसी जजमान के घर उसकी दावत होती। रात को सभी चौपाल पर एक साथ जमा हो जाते। खाटों को कुछ इस तरह जमाते कि जागा की खाट मंच हो जाती और बाकी श्रोता। महिलाएं भी छतों पर जुट जातीं। जागा अपनी बुलंद आवाज में कहानी कहना शुरू करता। शर्त यही रहती कि सभी



‘हूंकारा’ भरेंगे। जागा लम्बी-लम्बी कहानी कहता और एक ही कहानी दो-दो, तीन-तीन दिनों तक चलती। हम बच्चे भी वहीं जुट जाते। जागा का कहानी कहने का कौशल अद्भुत होता, जबरदस्त तरह की किस्सागोई होती। बात में बात, किस्से में किस्सा ऐसे पिरोता कि श्रोता मन्त्र मुग्ध होकर सुनते।

भोना बाबा की फड भी आती जिसे पढ़कर एक बाबा सुनाता। इसके अलावा भजन संध्याएं भी इसी परंपरा में जुड़तीं। ये था बचपन में हमारा साहित्य से परिचय, साहित्य का संस्कार। 10-11 की उम्र में पढ़ने शहर भेज दिया गया। और फिर वह सब कुछ छूटता गया। जागा कब आता, फड कब वांची जाती इन सब से दूर कर दिया गया। गर्मियों की छुट्टियों में छत पर कथा कहानियों का आस्वाद कभी-कभार मिलता। शहर में अनचाही पाठ्यपुस्तकीय जिन्दगी हमारे साथ होती। वहां घर के लोगों (बड़े भाई और भाभी) ने ‘जमाने की दौड़’ का हिस्सा हमें भी बना दिया। सदा यही दबाव रहता कि पाठ्यपुस्तकों के अलावा किताबें और टीवी समय की बर्बादी के साधन हैं। अच्छे नम्बर लाओ और ‘अच्छी नौकरी’ की तैयारी में जुट जाओ।

गांव में किसी प्रकार के लिखित साहित्य से - पाठ्यपुस्तकों से इतर साहित्य से - वास्ता कभी नहीं पड़ा। पाठ्यपुस्तकों का साहित्य कभी वाचिक रूप में नहीं आया। ऐसा क्यों था ? क्यों कभी भी वाचिक परम्परा और पाठ्यपुस्तकों के बीच में पुल नहीं बन सका, एक कड़ी की तरह नहीं जुड़ पाए ? शायद उनकी भाषा, कथ्य और प्रस्तुति सब लोक से कटी हुई थी। पाठ्यपुस्तकों ने पढ़ने और प्रश्नोत्तरों तक ही सीमित कर दिया। पाठ्यपुस्तकेतर साहित्य (लिखित साहित्य) से वास्ता बहुत बाद में पड़ा और जब पड़ा तो बाल साहित्य (लिखित साहित्य) पीछे छूट गया। लेकिन साहित्य का चस्का सम्मोहित करने लगा था। पाठ्यपुस्तकों से ये चस्का क्यों नहीं पैदा हुआ ? परीक्षा के लिए पढ़ना और आनन्द के लिए पढ़ने का फर्क ही शायद कारण रहा होगा। मन में सवाल उठता है, क्यों हमारी स्कूली व्यवस्था में साहित्य को समुचित स्थान नहीं मिला है ?

जब शिक्षा के क्षेत्र में काम करना आरंभ किया तो सघन रूप से साहित्य (बाल साहित्य) का अध्ययन नए सिरे से आरंभ किया। तब एक लम्बी वंचना का अहसास और गहराया कि, बहुत कुछ है जो छूट गया है जो हमें नहीं मिला। हमउम्र साथियों- जिन्हें बचपन से ही साहित्य पढ़ने का अवसर मिला था - से साहित्य पर चर्चा होती तो ये अहसास और गहराता कि एक लम्बा फासला है जो शायद कभी तय नहीं किया जा सकता। इसी वंचना ने बाल साहित्य की जरूरत एवं भूमिका पर सोचने को प्रेरित किया। ऐसा क्या है साहित्य में जो कुछ खोने का अहसास जगाता है ? शायद एक दृष्टि जो अपने आसपास को देखने, समझने, जानने की उत्सुकता पैदा करती है। दुनिया को नये अंदाज में देखने-जानने में हमारी मदद करती है। हमारे अहसासों को भाषा देता है कि, अरे ! इसे मैं ऐसे भी देख सकता हूं, कह सकता हूं। अनुभव जब अपनी अभिव्यक्ति चाहते हैं तब जरूरत होती है भाषा की, भाषायी शिल्प की, लालित्य की और साहित्य इसमें हमारी मदद करता है। साहित्य ही है जो बंधी बधायी परम्पराओं पर सवाल खड़े करता है। उम्र के बढ़ने और चीजों के साथ रिश्तों को समसामयिक बनाता है। साहित्य हमें सिर्फ भाषा ही प्रदान नहीं करता, भाषा से इतर जैसा कि पाउलो फ्रेरे ने कहा है, “जब मैं पढ़ता हूं तो दुनिया को समझ रहा होता हूं। और जब दुनिया को समझ रहा होता हूं तो खुद को भी समझ रहा होता हूं।” यह सही मायने में स्वयं को और दुनिया को जानने का माध्यम भी होता है। दुनिया को जानने समझने के इस माध्यम की शुरुआत बच्चे के लिए कथा कहानियों से होती है लेकिन धीरे-धीरे इसके फलक में विस्तार होता है जो गंभीर साहित्य की ओर प्रवृत्त होता है।

यदि इसे मैं अपने अनुभवों में देखूं तो न जाने कितने अन्तर्द्वंद्वों से साहित्य ने मुझे गुजारा है। जब एक प्रकार से बनी अपनी अस्मिता पर, समझ पर साहित्य ने सवाल खड़े किए हैं। ओमप्रकाश वाल्मिकि का ‘जूठन’ पढ़ा तो दुनिया वैसी नहीं बची थी जैसी पहले थी। सारे संस्कार हिल उठे थे जिनमें जातीय दंभ बैठा हुआ



था। तमाम साहित्यकार हैं जिन्होंने मानसिक तंतुओं को झिझोड़ा है। प्रेमचंद, अमृतलाल नागर, शरतचंद्र, विजयदान देथा, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, और न जाने कितने लेखकों का योगदान इस अन्तर्यात्रा में रहा है, जिन्होंने हमें नई अस्मिता दी, मानवता की नई परिभाषाएं उजागर कीं।

अब लगता है कि बच्चों के लिए साहित्य उनका अधिकार है जो वयस्कों से कहीं न कहीं बेहतर एवं श्रेष्ठ रूप में उन्हें उपलब्ध होना चाहिए। हिन्दी क्षेत्र में (भारत भर में) बहुत से मूर्धन्य लेखकों ने बच्चों के लिए साहित्य की रचना की है। लेकिन एक सवाल ये भी है कि क्या वह साहित्य हमारे बच्चों तक-खासतौर से ग्रामीण बच्चों तक - पहुंच रहा है ? हमारी वृहत शिक्षा व्यवस्था से भी यह अभी तक क्यों मुमकिन नहीं हो पाया है ? सामाजिक स्तर पर पुस्तकालयों की बात तो दीगर है। ऐसा लगता है कि हमारे शिक्षक साथी भी साहित्य के उस आनन्द और आस्वाद से वंचित हैं जिसे साहित्य देता है।

जब हमने बच्चों की पाठ्यपुस्तकों के लिए रचनाएं छांटनी चाहीं तो ऐसा कम ही साहित्य हाथ लगा जो बच्चों के विभिन्न आयुवर्गों के अनुरूप हो और सभी विधाओं में पर्याप्त रूप से उपलब्ध हो। जिसमें बच्चे की दुनिया को ठीक से समझा गया हो। जो बच्चों की अभिवृत्तियों को समझ कर लिखा गया हो। जो बच्चों के अनुभव संसार को भाषा देता हो। बच्चों के सपनों को भाषा देता हो, जो बच्चों की कल्पनाओं को स्थान देता हो, जिसमें उनकी आकांक्षाएं बसी हों। 'बच्चों की श्रेष्ठ कहानियां' संग्रह में ज्यादातर अश्रेष्ठ कहानियों का संकलन भी मिला। हमारे यहां ऐसे साहित्य और साहित्यकारों की भी कमी नहीं है जो बच्चों को कुछ 'सिखा देने' की चाह से ही रचा गया होता है या साहित्य रचते हैं ; जो बच्चे को अपने बने बनाए ढांचे में देखते हैं और चाहते हैं कि भावी पीढ़ियां वैसी हों जैसी वे चाहते हैं। बच्चों की दुनिया को समृद्ध करने वाले साहित्य की कमी अभी भी महसूस होती है।

जिस भी बच्चे को शाला की दहलीज पर पैर रखने का अवसर मिलता है उसका साबका पाठ्यपुस्तकों में संकलित साहित्य से पड़ता है। पाठ्यपुस्तकों की शुरुआत (भाषा की) लिपि सिखाने से होती है। लिपि सिखाने की यांत्रिक क्रिया में बच्चे को आरम्भ से ऐसे बांध दिया जाता है कि साहित्य का आस्वाद जाता रहता है। वही प्रश्नोत्तर कि, 'राजा कहां रहता था या यदि तुम उसके स्थान पर होते तो क्या करते ?' इसी का नतीजा होता है कि बच्चे पाठ्यपुस्तक में ही कोष्ठक बनाकर प्रश्नों के उत्तर याद करने लगते हैं। पाठ्यपुस्तकों में शामिल साहित्य के पीछे चयनकर्ताओं एवं निर्माता समूह के आग्रह होते हैं। उनका ऐजेण्डा बच्चे के लिए साहित्य आस्वाद नहीं होकर देशभक्ति, अच्छे नागरिक बनना, चरित्र निर्माण आदि हो जाता है। रचनाओं के चयन से लेकर प्रश्नोत्तरों में उनके ये आग्रह दृष्टिगोचर होते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में साहित्य उद्देश्यपरक रूप में प्रस्तुत होता है और बच्चे के लिए उस दुनिया के किवाड़ बन्द हो जाते हैं जहां साहित्य दुनिया में झांकने, जानने और उसके व्यक्तित्व को नये आयाम देने में सक्षम हो सकता है।

इस अंक के माध्यम से हमारा आशय यही है कि बच्चे के लिए साहित्य की जरूरत को समझा जाए। बच्चे की दुनिया को समझा जाए। यही हमारा मंतव्य रहा है कि उपलब्ध साहित्य एवं पाठ्यपुस्तकों में संकलित साहित्य की समीक्षा हो। इस बहस को आगे बढ़ाया जाए कि अच्छा बाल साहित्य सभ्य समाज में बच्चों का अधिकार है और शिक्षक साथी, माता-पिता इसे समझें। शिक्षक की हैसियत से यह और भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है कि साहित्य की भूमिका को समुचित रूप से समझा जाए और साहित्य को सिर्फ मनोरंजन के चक्र से बाहर निकालकर समग्रता में उसके योगदान को देखा जाए। यह प्रयास इसी ओर एक कदम है।

हम हिमांशु के आभारी हैं जिन्होंने इस अंक का अतिथि संपादक बनाना स्वीकार किया और इसे अपने प्रयासों से पार चढ़ाया। हम सभी लेखक साथियों के आभारी हैं जिन्होंने अपने व्यस्त समय से समय निकालकर हमारा सहयोग किया और हमारे सरोकारों को साझा मंच दिया।

विश्वंभर

